प्रवचन नं. २९६, गाथा-२१८, २१९, श्लोक-१४८-१४९ मंगलवार, भाद्र शुक्ल ६
दिनाङ्क २८-०८-१९७९

समयसार, कलश १४८ है न? ऊपर आया, उसमें जरा स्पष्टीकरण किया न? कि बन्ध और उपभोग के अध्यवसाय, ऐसा कहा न? तो इस संसारसम्बन्धी जो निष्प्रयोजन मिथ्याध्यान, आर्तध्यान, रौद्रध्यान। मच्छ का दृष्टान्त दिया है। वह मच्छ, तन्दुल मच्छ का दृष्टान्त दिया है। बात सच्ची। मस्तिष्क में था, कहा, इस बन्ध के कारण को संसार और विषय के कारण कहा और उपभोग, शरीरसम्बन्धी के बन्ध के कारण में नहीं डाला। तो उसका कारण क्या? वापस कहा अवश्य कि जो संसारसम्बन्धी अध्यवसाय है, रागादि, मोह, द्वेष। राग-द्वेष-मोह कहे हैं न? और शरीरसम्बन्धी जो सुख-दुःख है, दोनों में राग

नहीं—अन्दर प्रेम नहीं, आत्मा के धर्म की दृष्टि से। आहाहा! चिदानन्द भगवान आत्मा अन्तर में जिसे रुचा और पोषाण हुआ है, वह धर्म की पहली सीढ़ी है। आहाहा! उसे संसारसम्बन्धी के रागादि आवे, परन्तु उसके प्रति राग नहीं है और शरीरसम्बन्धी सुख के उपभोग, दुःख के परिणाम आवे परन्तु उसमें तीव्र रस नहीं है। इसलिए उसे बन्ध के कारण अल्प है, उन्हें नहीं गिना है। समझ में आया? आहाहा!

कल आया था न यह? संसार विषयसम्बन्धी के अध्यवसाय हों, वे बन्ध के कारण और शरीरसम्बन्धी के उपभोग और सुख, दुःख, बस! इतना कहा। आहाहा! भाई! मार्ग तो ऐसा अलौकिक है, भाई! यह शास्त्र गाथा और एक-एक पद कोई अलौकिक है। आहाहा! उसे कहते हैं कि धर्मी जीव को पहली शुरुआत उसे राग से भिन्न हुआ है, ऐसा भान हुआ है, उसकी बात है। और करने का भी पहला यह है। आहाहा! राग के विकल्प से चैतन्य प्रभु भिन्न है, ऐसी प्रथम में प्रथम दृष्टि और अनुभव करनेयोग्य है। आहाहा! उस दृष्टिवन्त को कहते हैं कि शरीरसम्बन्धी के जो सुख, दुःख के परिणाम, उन्हें बन्ध का कारण नहीं कहा और विषयसम्बन्धी के जो अध्यवसाय, उसे बन्ध का कारण कहा। इसका कारण यह है कि जो बाह्य विषय शरीर के अतिरिक्त के उपभोग के जो दूसरे अध्यवसाय हैं, उपभोग के अतिरिक्त दूसरे हैं, उनमें तीव्रता है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! तथापि उन दोनों अध्यवसाय में धर्मी को राग नहीं है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, प्रभु! उसका जिसे अनुभव और दृष्टि में स्वीकार हुआ है, उसे वे अध्यवसाय दोनों प्रकार के प्रति राग नहीं है परन्तु एक को बन्ध का कारण कहा और एक को साधारण उपभोग का कारण कहा, बस! आहाहा! समझ में आया? कल आया था न? परन्तु किसी ने प्रश्न तो किया नहीं कि उपभोग के कारण को बन्ध का कारण क्यों नहीं कहा? परन्तु किसी ने किया नहीं। सबने सुना तो था। सुमनभाई!

जब संसारसम्बन्धी के आर्तध्यान और रौद्रध्यान के परिणाम अकेले अध्यवसाय, वे बन्ध के कारण कहे और शरीरसम्बन्धी के उपभोग में सुख, दुःखादि कहा, बस! इतना। परन्तु वे बन्ध के कारण नहीं कहे? परन्तु किसी को प्रश्न उठा? हीराभाई! फिर आज यह स्पष्टीकरण किया। आहाहा! मैंने देखा, उसमें संस्कृत में है। जयसेनाचार्य की टीका है न? कारण कि प्रश्न उठा, इसलिए (देखा)। २१७ है न?

'संसार विशेषु निष्प्रयोजन बंध निमित्तेषु' 'बंध' ऐसा कहा। **'संसारविशेषु भोगनिमित्तेषु देवविशेषु इदम् अत्र तात्पर्यम्'** यहाँ तात्पर्य यह है। **'भोगनिमित्तेम् स्तुतम पापकरोति'** इसलिए उसे बन्ध का कारण नहीं कहा। नहीं तो है तो सुख, दुःख के परिणाम हुए, वह बन्ध का ही कारण है। भले उसके प्रति राग नहीं है। समझ में आया ? अरे ! ऐसी बातें हैं। देखो ! **'भोगनिमित्तम् स्तुतम् अर्थ पाप करोतिम् अयम जीव'** और **'निष्प्रयोजन अप ध्यानम् बहुतप करोति'** वह तन्दुल मच्छ व्यर्थ का आर्तध्यान करके इसे खाऊँ और इसे मारूँ (करता है)। समझ में आया इसमें ? आहाहा ! निष्प्रयोजन—बिना कारण से, भोग के कारण से तो जरा रस उसे अन्दर में छूटता नहीं तो वे सुख, दुःख के परिणाम आते हैं, भाई ! आहाहा ! परन्तु निष्प्रयोजन राग और द्वेष करता है, संसार के, कमाने के इत्यादि निष्प्रयोजन हैं, कहते हैं। ये अध्यवसाय (बन्ध के कारण कहे)। यद्यपि दोनों अध्यवसाय है परन्तु एक अध्यवसाय के प्रति बन्ध का कारण कहा और दूसरे को सुख, दुःखादि परिणाम (कहकर) इतनी मर्यादा रख दी। समझ में आया ? बाकी बाद में तो कहा कि, सुख, दुःखादि के परिणाम और संसारसम्बन्धी कठोर आर्तध्यान, रौद्रध्यान के परिणाम, दोनों के प्रति धर्मी को राग तो नहीं है। यह तो कहा न ? आहाहा ! देखो न, शैली ! कहो, समझ में आया ? सुरेशभाई ! तब प्रश्न क्यों नहीं उठा ? सुना है, सुना है (करते हो)। पूछने योग्य है, यह रात्रि में प्रश्न किए, उसमें यह प्रश्न नहीं आया। हीराभाई ! थोड़ी सूक्ष्म बात थी। आहाहा ! जो बात सुने, उसमें ख्याल में-न्याय में आना चाहिए न ? आहाहा !

अब १४८ कलश।

ज्ञानिनो न हि परिग्रह-भावं कर्म रागरस-रिक्ततयैति।
रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह।।१४८।।

[इह अकषायितवस्त्रे] जैसे लोध और फिटकरी इत्यादि से... रंगा हुआ वस्त्र नहीं। आहाहा ! **ऐसे वस्त्र में रंग का संयोग,...** आहाहा ! **वस्त्र के द्वारा अंगीकार न किया जाने से,...** वस्त्र में रंग नहीं चढ़ता। आहाहा ! जिसे कषाय,... लोध, फिटकड़ी आदि से कषायित। ये सब कषायित हैं, ऐसे कषाय अर्थात् कषाय नहीं, कषायित। रंग चढ़ने के योग्य। आहाहा ! **लोध और फिटकरी इत्यादि से जो कसायला नहीं किया गया**

हो... अर्थात् लोध और फिटकड़ी के रंग से वस्त्र रंगा हुआ न हो, ऐसे वस्त्र में रंग का संयोग नहीं होता। उस वस्त्र को रंग नहीं लगता। आहाहा! समझ में आया?

रंग का संयोग,... '**रंगयुक्तिः**' है न? (अर्थात्) सम्बन्ध। '**अस्वीकृता**' वस्त्र में रंग चढ़ता नहीं, **ऊपर ही लौटता है...** वस्त्र के बाहर ही वह रंग लोटता है। क्योंकि फिटकड़ी और लोद का रंग नहीं चढ़ा, इसलिए उसे अन्दर दूसरे रंग नहीं चढ़ते। आहाहा! **ऊपर ही लौटता है (रह जाता है)–वस्त्र के भीतर प्रवेश नहीं करता,...** वस्त्र में वह रंग प्रवेश नहीं करता, कहते हैं। आहाहा!

इसी प्रकार **[ज्ञानिनः रागरसरिक्ततया कर्म परिग्रहभावं न हि एति]** आहाहा! प्रथम में प्रथम भगवन्त आत्मा शुद्ध चिद्घन आनन्दकन्द वीतरागमूर्ति की दृष्टि करना चाहिए। प्रथम में प्रथम उसका यह कर्तव्य है। जिसे धर्म करना हो और खुशी होना होवे तो (यह कर्तव्य है)। अनादि से भटकता है, तो वह भटकता है। आहाहा! जिसे धर्म करना हो, उसे प्रथम में प्रथम स्वभाव जो चैतन्यघन आत्मा, उसे राग से भिन्न पहले जानना चाहिए। कान्तिभाई! यह बात है, बापू! यहाँ तो। भगवान! आहाहा! तेरी चीज़ तो देख अन्दर, कहते हैं। अरे! तू दूसरे को देखने में रुक गया परन्तु तूने तुझे देखा नहीं। आहाहा! यह शरीर इसका ऐसा है और यह शरीर रूपवान है और यह काला है और ये लड्डू अच्छे हैं, और यह काली जीरी अच्छी नहीं है। ऐसा वहाँ देखने में रुक गया है। ज्ञान वहाँ देखने में रुक गया है, प्रभु! परन्तु जिसका ज्ञान है, उसे देखने में रुका नहीं। आहाहा! दूसरे प्रकार से कहें तो बहिरंग में उसका उपयोग फिरा, परन्तु अन्तरंग में उपयोग नहीं गया। आहाहा! करने का यह है। शुरुआत में प्रथम में प्रथम यह है। धर्म करना हो उसे, हों! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, उस लोध, फिटकरी का रंग नहीं चढ़ा, उस वस्त्र को रंग नहीं लगता। वस्त्र में रंग प्रवेश नहीं करता। आहाहा! उसी प्रकार ज्ञानी को... आहाहा! राग से भिन्न भगवान जिसे जानने में आया है, वह चैतन्यमूर्ति है—ऐसी दृष्टि हुई है... आहाहा! (वह) **ज्ञानी रागरूपी रस से रहित है...** उस वस्तु के भाव में उसे राग नहीं है। जैसे फिटकरी का रंग नहीं, उस वस्त्र को रंग नहीं चढ़ता। उसी प्रकार जिसे इस रागभाव में राग नहीं... आहाहा! उसे '**कर्म परिग्रह**' 'कर्म मेरा है', ऐसा उसे नहीं होता। आहाहा!

ज्ञानी रागरूपी रस से रहित है... यह प्रथम में प्रथम की बात है। आहाहा! धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जिसे राग का रस छूट गया है और आनन्द का रस आया है। आहाहा! उस अतीन्द्रिय आनन्द के रस के प्रेम में धर्मी को रागादि के भाव में रस रंगता नहीं है। आहाहा! जहाँ एकत्वबुद्धि टूट गयी है, उसमें उसे राग का रंग चढ़ता नहीं है। आहाहा! जिसे स्वभाव का रंग चढ़ा है... आहाहा! उसे राग का रंग चढ़ता नहीं, कहते हैं। आहाहा! जिसे आत्मभगवान परमानन्दस्वरूप प्रभु का जिसने रस चखा है, उसे राग का रस चढ़ता नहीं है। उसे राग का रस आता नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। सादी गुजराती है, समझ में आता है थोड़ा-थोड़ा?

कर्म परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता। अर्थात्? कि जिसे आत्मा ज्ञायकभाव परिग्रहपने को प्राप्त हुआ है, ज्ञायकभाव जिसने परि अर्थात् समस्त प्रकार से दृष्टि में लिया है... आहाहा! ऐसे धर्मी को राग के परिणाम में रस नहीं चढ़ता, वह रँगाता नहीं है। आहाहा! समझ में आया? भाई! मार्ग बहुत अलौकिक है, बापू! आहाहा! यह कर्म अर्थात् पुण्य-पाप के परिणाम, वह परिग्रह अर्थात् अपनेपने को प्राप्त नहीं होते। यह ममता-मेरे हैं, ऐसा ज्ञानी को नहीं होता। मेरा तो भगवान स्वरूप चैतन्य शुद्ध, वह मेरा है। ऐसा जिसे अन्तर में भान हुआ है, उसे राग का रस नहीं चढ़ता। वह राग मेरा है, ऐसी ममता उसे नहीं होती। आहाहा! गजब शैली!

भावार्थ :- जैसे लोध और फिटकरी इत्यादि के लगाये बिना वस्त्र में रंग नहीं चढ़ता; उसी प्रकार रागभाव के बिना... राग के राग बिना, राग के प्रेम बिना, राग मेरा है—ऐसी ममता के बिना **कर्मोदय का भोग...** आहाहा! **परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता।** आहाहा! परिणाम आवे परन्तु उसके परिणाम का परिणाम, परिणाम का परिणाम जो एकत्वबुद्धि, वह नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? यह लोग नहीं कहते कि इस पढ़ने का परिणाम क्या आया अन्त में? इसी प्रकार यहाँ कहते हैं, राग आया, उसका परिणाम क्या आया धर्मी को? कि उसका परिणाम यह आया कि उसे राग की ममता नहीं है। आहाहा!

उसे ममपना तो आत्मा में है। मम अर्थात् आनन्द का भोजन। मम नहीं कहते लड़के? आहाहा! सब भाषा ऐसी लड़कों के लिये प्रयोग करते हैं न? मम और मम्मी और पप्पा। क्योंकि यहाँ से भाषा निकले (ऐसे शब्द), उसे अन्दर कण्ठ में से निकले, इसलिए

सब प्रयोग नहीं होता। मम्मी, मम यहाँ से (निकले)। ऐसा आता है। सब अक्षर आते हैं। क, ख, ग, घ तक में ऐसा है, अमुक है, ऐसा सब पढ़ा है। वह मुँह से बोले, होंठ से (बोले), मम, मम्मी, पप्पा। उसमें कहीं कण्ठ की आवश्यकता नहीं है। उसी प्रकार मम, मम्मी और पप्पा, ये तीनों यहाँ से बोले जाते हैं, अध्धर से। आहाहा! इसी प्रकार धर्मी को मम अर्थात् आत्मा का जहाँ मम है, आहार है आत्मा का... आहाहा! वहाँ राग की ममता का मम उसे नहीं होता। उसे राग का आहार नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें है, सुमनभाई! कहीं मिले ऐसा नहीं, बापू! आहाहा! वह **कर्मोदय का भोग...** इतना लिया वहाँ। **परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता।** आहाहा!

कलश - १४९

अब पुनः कहते हैं कि–

(स्वागता)

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न।।१४९।।

श्लोकार्थ : [यतः] क्योंकि [ज्ञानवान्] ज्ञानी [स्वरसतः अपि] निजरस से ही [सर्वरागरसवर्जनशीलः] सर्व रागरस के त्यागरूप स्वभाववाला [स्यात्] है, [ततः] इसलिए [एषः] वह [कर्ममध्यपतितः अपि] कर्मों के बीच पड़ा हुआ भी [सकल-कर्मभिः] सर्व कर्मों से [न लिप्यते] लिप्त नहीं होता।।१४९।।

कलश-१४९ पर प्रवचन

अब पुनः कहते हैं कि– १४९।

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न।।१४९।।

क्योंकि ज्ञानी... [स्वरसत: अपि] आहाहा! चैतन्य भगवान आनन्द का नाथ प्रभु, उसके रस का वेग चढ़ा है... आहाहा! धर्मी निजरस के वेग में चढ़ा है। रस का अर्थ वेग भी किया है एक जगह। आहाहा! भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु, उसके पन्थ में जो अन्तर (में) गया है, उसे निजरस के **रस से ही...** आहाहा! **रस से ही [सर्वरागरस-वर्जनशील:]** आहाहा! यह इसे ख्याल में तो बात करे कि वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञानी को—धर्मी जीव को निज रस से ही। आत्मा आनन्द प्रभु है, उसके आनन्द के रस से ही जिसका वेग अन्दर जगा है। आहाहा! राग से भिन्न पड़कर अरागी शान्ति का रस जिसने चखा है और शान्ति के वेग में चढ़ा है। आहाहा! ऐसे **निजरस से ही... [सर्वरागरसवर्जनशील:]** सर्व प्रकार के राग के रस से त्यागरूप। राग के वेग के त्यागरूप। आहाहा! उसका वेग छूट गया है। **स्वभाववाला है... [स्यात्]** अर्थात्। आहाहा!

सर्व रागरस के त्यागरूप स्वभाववाला है, इसलिए वह कर्मों के बीच पड़ा हुआ भी... आहाहा! रागादि के कार्य के प्रसंग में अन्दर दिखने पर भी। आहाहा! समझ में आया? रागादि के कार्य के प्रसंग में दिखने पर भी। **कर्मों के बीच...** राग के मध्य में पड़ा दिखने पर भी **सर्व कर्मों से लिप्त नहीं होता।** आहाहा! चाहे तो वह धन्धे-पानी में दिखे। समझ में आया? आहाहा! परन्तु उसका रस, अन्दर ज्ञान का रस है, इसीलिए धर्मी को प्रत्येक में से रस उड़ गया है। आहाहा! जिसे निजरस का भान और स्वाद आया, उसे राग का रस कैसे हो? और जिसे राग का रस है, उसे आत्मरस कैसे हो? आहाहा! सुजानमलजी! ऐसी बातें हैं। 'सादड़ी में-बादड़ी में' कहीं मिले, ऐसा नहीं। कहीं मिले ऐसा नहीं। आहाहा!

सादड़ी यह मर जाने के बाद नहीं करते? वहाँ मुम्बई में करते हैं न? वहाँ जीते जी कहाँ से दिखायी दे? मरे हुए की सादड़ी होती है। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा, जिसका जीवन दर्शन, ज्ञान, चारित्र का है... आहाहा! जिसका जीवन मन और इन्द्रिय से जिसका जीवन नहीं है। समझ में आया? सूक्ष्म बात, भाई! मन और इन्द्रिय से जिसका जीवन नहीं है। जिसका ज्ञान और आनन्द के रस से जीवन है। आहाहा! उसे राग के रस का जीवन नहीं चढ़ता। उसे राग का रस-जीवन नहीं होता। राग से तो मर गया है। जागती चैतन्यज्योति से जीवित है। आहाहा!

जीवत्वशक्ति ली है न ? वह पहले क्यों ली ? कि दूसरी गाथा में सीधा आया है न ? **'जीवो चरित्तदंसण णाण ठिदो'** भगवान आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित हो, वह स्वसमय, वह आत्मा है और राग में स्थिर हो, वह पुद्‌गलप्रदेश में स्थित है। वह अनात्मा—परसमय अनात्मा है। आहाहा! वहाँ से **'जीवो'** यह दूसरी गाथा का पहला शब्द है। वहाँ से जीवत्वशक्ति निकाली है। ४७ शक्ति में पहली। आहाहा! जीवत्वशक्ति अर्थात् जिसका जीवन ज्ञान, दर्शन, आनन्द और सत्ता का जिसे जीवन है, स्वसत्ता का जिसे जीवन है। राग और पुण्यादि और पर का जीवन उसे नहीं है। आहाहा! और जिसे स्व का जीवन नहीं, उसे राग और पुण्य और पाप के भाव, विकार का जीवन है, वे सब मुर्दे—अनात्मा हैं, कहते हैं। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **कर्मों के बीच...** कर्म अर्थात् विकारी परिणाम के मध्य में, कार्य में मध्य में दिखायी दे। तो **भी सर्व कर्मों से लिप्त नहीं होता।** रागादि के कार्य में पड़ा दिखायी देने पर भी ज्ञानी उस राग से बन्धन नहीं पाता। उस राग का रस उसे नहीं चढ़ता, वस्त्र की भाँति। समझ में आया ? आहाहा! वह कषायित लोध और फिटकड़ी के अतिरिक्त वस्त्र में रंग प्रवेश नहीं करता, वैसे राग के रस के अतिरिक्त राग अन्तर में अपना हैं, ऐसा वह नहीं मान सकता। आहाहा! जिसे राग का रस छूट गया है, उसे राग का रंग—एकत्वबुद्धि उसे नहीं आती। आहाहा! गजब बातें, भाई!

यहाँ तो अभी शुभराग, वह धर्म और अभी शुभराग होता है, ऐसा कहे। अरर! प्रभु! प्रभु! क्या हो ? अरे! चैतन्य ज्योति भगवान, उसे अभी अव्यक्तरूप से भी 'है', ऐसा नहीं मानते, राग ही अभी है, बस! आहाहा! व्यक्तरूप से तो अनुभव करे, तब ख्याल (आवे) परन्तु अभी आत्मा अन्दर शुद्ध चैतन्यघन है, वह शुद्ध उपयोग से ही प्राप्त होता है। उसे (ऐसा माननेवाले को) उसके जीवन में शुद्ध उपयोग तो होता ही नहीं। आहाहा! ऐसी बातें। **कर्मों के बीच...** अर्थात् विकारी परिणाम की क्रिया हो, उसके मध्य में दिखायी देने पर भी उस विकारी परिणाम का उसे रस नहीं चढ़ता। आहाहा! समझ में आया ?

गाथा - २१८-२१९

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं।।२१८।।

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं।।२१९।।

ज्ञानी रागप्रहायक: सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगत:।
नो लिप्यते रजसा तु कर्दममध्ये यथा कनकम्।।२१८।।

अज्ञानी पुना रक्त: सर्वद्रव्येषु कर्म-मध्यगत:।
लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दम-मध्ये यथा लोहम्।।२१९।।

यथा खलु कनकं कर्दममध्यगतमपि कर्दमेन न लिप्यते, तदलेपस्वभावत्वात्; तथा किल ज्ञानी कर्ममध्यगतोऽपि कर्मणा न लिप्यते, सर्वपरद्रव्यकृतरागत्यागशीलत्वे सति तदलेपस्वभावत्वात्। यथा लोहं कर्दममध्यगतं सत्कर्दमेन लिप्यते, तल्लेपस्वभावत्वात् तथा किलाज्ञानी कर्ममध्गत: सन् कर्मणा लिप्यते, सर्वपरद्रव्यकृतरागोपादानशीलत्वे सति तल्लेपस्वभावत्वात्।।२१८-२१९।।

अब इसी अर्थ का विवेचन गाथाओं द्वारा कहते हैं:-

हो द्रव्य सबमें रागवर्जक, ज्ञानि कर्मों मध्य में।
पर कर्मरज से लिप्त नहिं, ज्यों कनक कर्दममध्य में।।२१८।।

परद्रव्य सबमें रागशील, अज्ञानि कर्मों मध्य में।
वह कर्मरज से लिप्त हो, ज्यों लोह कर्दममध्य में।।२१९।।

गाथार्थ : [ज्ञानी] ज्ञानी [सर्वद्रव्येषु] जो कि सर्व द्रव्यों के प्रति [रागप्रहायक:] राग को छोड़नेवाला है, वह [कर्ममध्यगत:] कर्मों के मध्य में रहा हुआ हो [तु] तो भी [रजसा] कर्मरूपी रज से [नो लिप्यते] लिप्त नहीं होता- [यथा] जैसे [कनकम्] सोना [कर्दममध्ये] कीचड़ के बीच पड़ा हुआ हो तो भी लिप्त नहीं होता। [पुन:] और [अज्ञानी] अज्ञानी [सर्वद्रव्येषु] जो कि सर्व द्रव्यों के प्रति [रक्त:] रागी है, वह [कर्ममध्यगत:] कर्मों के मध्य रहा हुवा [कर्मरजसा] कर्मरज से [लिप्यते तु] लिप्त होता

है– [यथा] जैसे [लोहम्] लोहा [कर्दममध्ये] कीचड़ के बीच रहा हुआ लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसे जंग लग जाती है)।

टीका : जैसे वास्तव में सोना कीचड़ के बीच पड़ा हो तो भी वह कीचड़ से लिप्त नहीं होता (अर्थात् उसे जंग नहीं लगती) क्योंकि उसका स्वभाव अलिप्त रहना है, इसी प्रकार वास्तव में ज्ञानी कर्मों के मध्य रहा हुवा हो, तथापि वह उनसे लिप्त नहीं होता क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग उसका त्यागरूप स्वभावपना होने से ज्ञानी अलिप्त स्वभावी है। जैसे कीचड़ के बीच पड़ा हुआ लोहा कीचड़ से लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसमें जंग लग जाती है)। क्योंकि उसका स्वभाव कीचड़ से लिप्त होना है, इसी प्रकार वास्तव में अज्ञानी कर्मों के मध्य रहा हुआ कर्मों से लिप्त हो जाता है क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग उसका ग्रहणरूप स्वभावपना होने से अज्ञानी कर्म से लिप्त होने के स्वभाववाला है।

भावार्थ : जैसे कीचड़ में पड़े हुए सोने को जंग नहीं लगती और लोहे को लग जाती है, इसी प्रकार कर्मों के मध्य रहा हुआ ज्ञानी कर्मों से नहीं बँधता तथा अज्ञानी बँध जाता है। यह ज्ञान–अज्ञान की महिमा है।

गाथा – २१८–२१९ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ का विवेचन गाथाओं द्वारा कहते हैं:–

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं।।२१८।।

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं।।२१९।।

नीचे हरिगीत।

हो द्रव्य सबमें रागवर्जक, ज्ञानि कर्मों मध्य में।
पर कर्मरज से लिप्त नहिं, ज्यों कनक कर्दममध्य में।।२१८।।

परद्रव्य सबमें रागशील, अज्ञानि कर्मों मध्य में।
वह कर्मरज से लिप्त हो, ज्यों लोह कर्दममध्य में।।२१९।।

आहाहा! यह पर्यूषण के दिन हैं, प्रभु! उस मार्दव (धर्म का) तो रह गया। अभी याद आया। मार्दव है न? दूसरा धर्म, आज दूसरा धर्म मार्दव है। देखो! जाति और कुल आदि का गर्व न करना, यह मार्दव (अर्थात्) निर्मानता। जाति माता की और कुल पिता का कि हम बड़े रानी के पुत्र हैं और हम राजा के पुत्र हैं। प्रभु! यह गर्व नहीं करना। वह तू नहीं है। आहाहा! उसे सज्जन पुरुष मार्दव नाम का धर्म बताते हैं। जाति, कुल आदि का... आहाहा! गर्व अर्थात् अभिमान न करना। अपनी जाति और अपना... आहाहा! तीर्थंकर का कुल है आत्मा का; और तीर्थंकर की जाति का आत्मा है। आहाहा! वह जाति और कुल का जिसे भान हुआ, वह ऐसी (बाहरी) जाति और कुल का अभिमान नहीं करता।

यह उत्तम मार्दव। समकितसहित की बात है, हों! अकेला मार्दव नहीं। आहाहा! वह धर्म का अंग है। मार्दव धर्म भी धर्म का एक भाग है। ज्ञानमय चक्षु से समस्त जगत को स्वप्न अथवा... आहाहा! अन्तर की ज्ञानमय चक्षु से समस्त जगत को स्वप्न अथवा इन्द्रजाल समान देखनेवाले सन्त क्या वह मार्दव धर्म धारण नहीं करते? उन्हें मार्दव धर्म होता ही है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! मुख्यरूप से दसलक्षण धर्म है न? दसलक्षणी तो मुनि की प्रधानता से, चारित्र प्रधान की व्याख्या है। आहाहा! जिसे सम्यग्दर्शनसहित चारित्र होता है, उन्हें यह दस प्रकार का धर्म होता है। समकिती को आंशिक होता है, मुनि को विशेष होता है। आहाहा!

सर्व ओर से अतिशय सुलगती अग्नियों से खण्डरूप... आहाहा! दूसरी अवस्था को प्राप्त होनेवाला सुन्दर गृहस्थ का प्रतिदिन वृद्धत्व आदि द्वारा अवस्था को प्राप्त होनेवाले शरीरादि बाह्य पदार्थ में नित्यता का विश्वास किस प्रकार करे? आहाहा! क्या कहा? शरीरादि में सर्व ओर से अतिशय सुलगती अग्नि है वह तो। जीर्ण होता जाता है, नाश होता जाता है। आहाहा! ऐसे खण्डरूप दूसरी अवस्था, शरीर आदि की या पैसे की, सुन्दर गृहस्थ अर्थात् प्रतिदिन वृद्धत्व, आदि द्वारा, भगवान सुन्दर आनन्द का नाथ, उसे प्रतिदिन वृद्धत्व आया है, सदा ही। उस जीर्ण अवस्था को प्राप्त होनेवाले शरीरादि, बाह्य पदार्थ में नित्यता का विश्वास किस प्रकार करे? आहाहा! बाह्य चीज़ रहेगी, रखूँगा (—ऐसा कैसे हो)?

एक जगह ऐसा आता है कि स्वयं नित्य है, उसकी सूझ नहीं पड़ती, इसलिए दूसरी चीज़ को कायम रखना चाहता है। आहाहा! समझ में आया? स्वयं नित्यानन्द प्रभु है, उस नित्य को वह नहीं जानता, नहीं मानता, इसलिए वह नित्य यहाँ है, ऐसा न मानकर पर को नित्य रखूँ, पर को कायम रखूँ—ऐसी ममता में अनादि से पड़े हैं। आहाहा! धर्मी को मार्दव धर्म के कारण वह भाव नहीं होते, निर्मान है। जिसे पर का ममत्व और वे मेरे हैं, यह है नहीं। आहाहा! उस रजकण का, एक राग का अंश भी मेरा नहीं है। मैं तो त्रिलोकनाथ चिदानन्दस्वरूप प्रभु, आहाहा! बादशाह की गद्दी पर बैठा हुआ मैं, चैतन्य बादशाह भगवान। आहाहा! उसकी गद्दी पर बैठा हुआ, उसे राग का प्रसव कैसे हो? आहाहा! उसे मान का भाव कैसे हो? आहाहा!

कर नहीं सकता, इसलिए परपदार्थ में आसक्ति नहीं होती। इस प्रकार सर्वदा विचारनेवाले साधु के विशेष विवेकयुक्त निर्मल हृदय में जाति, कुल और ज्ञान... आहाहा! ज्ञान थोड़ा सा जानने का हुआ, वहाँ उसे अभिमान हो जाए कि, आहाहा! मुझे तो बहुत आया। अरे! बापू! बारह अंग का ज्ञान भी केवलज्ञान के पास अल्प है। आहाहा! उसके बारह अंग के अतिरिक्त का साधारण जानपना करके, वहाँ अभिमान में चढ़ जाए कि मुझे आता है और मुझे आता है। आहाहा! उसे मार्दवपना नहीं होता। धर्मी को मार्दव होता है। बारह अंग का ज्ञान भी पर्याय में (हो तो भी) पर्याय में पामर मानता है। अरे! मैं तो पामर हूँ। मेरा नाथ प्रभु है परन्तु पर्याय में पामर हूँ। आहाहा! समझ में आया? स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में यह बोल है। धर्मी अपने को केवली के समक्ष पामर मानता है। आत्मा (को) द्रव्य से परमेश्वर मानता होने पर भी पर्याय में पामर मानता है। आहाहा! निर्मल पर्याय उघड़ी, सम्यग्ज्ञान और बारह अंग का (ज्ञान उघड़ा)... आहाहा! तथापि उसे उसका अभिमान नहीं है, उसमें उसे निर्मानता है। आहाहा! जैसे-जैसे आगे बढ़े, वैसे-वैसे मान घट जाता है और निर्मानता बढ़ती है, उसे यहाँ मार्दवधर्म कहा जाता है। यह दूसरा धर्म (हुआ)।

अब यहाँ २१८-२१९ (गाथा की) टीका। **जैसे वास्तव में सोना कीचड़ के बीच पड़ा हो...** यह सोना कादव में पड़ा होने पर भी सोना को जंग नहीं लगती। आहाहा!

बहिन में नहीं आता एक? सोने को जंग नहीं होती, उस अग्नि को दीमक नहीं होती। आहाहा! उसी प्रकार भगवान तीन लोक के नाथ को आवरण और अशुद्धता नहीं होती। अरे! अब ऐसी बातें। अब बाहर में कहीं न कहीं जगह रुके, उसमें यह बात कहाँ जाए उसे? आहाहा!

कहते हैं, सुवर्ण वास्तव में कीचड़ के मध्य पड़ा हो ऐसे, चारों ओर कीचड़ और बीच में सोना पड़ा हो **तो भी वह कीचड़ से लिप्त नहीं होता...** उस सोने को काट—जंग, सोने को जंग नहीं होती। आहाहा! **क्योंकि उसका स्वभाव कीचड़ से अलिप्त रहना है,...** सोने का स्वभाव ही कीचड़ से अलिप्त रहने का है। आहाहा! अब यह तो दृष्टान्त है।

इसी प्रकार वास्तव में ज्ञानी... आहाहा! रागादि के कार्य और शरीरादि के कार्य के **कर्मों के मध्य रहा हुवा हो, तथापि वह उनसे लिप्त नहीं होता...** उस राग से उसे लेप नहीं लगता। सोने को कीचड़ चढ़ता नहीं, उसी प्रकार भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टिवन्त को... आहाहा! कर्म से लिप्त नहीं होता। वह कर्म के मध्य रहा (होने पर भी)। कर्म अर्थात् शुभाशुभभाव। शुभाशुभभाव के मध्य में पड़ा दिखायी दे... आहाहा! तो भी अन्दर उसे लेप नहीं है। आहाहा! क्यों? आहाहा!

सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग... क्यों लिप्त नहीं होता? आहाहा! **क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति...** त्रिलोकनाथ तीर्थंकर हों तो भी वे परद्रव्य हैं। आहाहा! उनके प्रति किया जानेवाला राग... आहाहा! **उसका त्यागरूप स्वभावपना होने से...** राग के अभावस्वभाववाला होने से। राग के त्यागस्वभाव से अर्थात् राग का अभावस्वभाव। भगवान आत्मा ही राग के अभावस्वभाववाला तत्त्व होने से। आहाहा! सोना, जिसे कीचड़ का लेप नहीं लगता—ऐसा होने से; इसी प्रकार भगवान आत्मा, जिसे राग का लेप नहीं लगता—ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! अब ऐसी बातें। वे तो कहे, व्रत करो, तपस्या करो, अपवास करो, नवकार गिनो, आनुपूर्वी गिनो। आता है न? आनुपूर्वी नहीं? णमो अरिहंताणं, णतो सिद्धाणं, णमो आईरियाणं, णमो अरिहंताणं ऐसे आड़े-टेढ़े (बोले क्योंकि) मन स्थिर हो। वह भी राग है वह तो। आहाहा! स्थानकवासी में आनुपूर्वी बहुत होता है, मन स्थिर हो। परन्तु वह तो राग है।

यहाँ कहते हैं, धर्मी... आहाहा! **सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला...** आहाहा! **राग उसका त्यागरूप स्वभावपना होने से...** आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र का राग, उससे भी त्याग स्वभाववाला तत्त्व है। आहाहा! अभी निकाला नहीं था? चेतनजी! श्रीमद् का भाई ने निकाला था न? श्रीमद् में २३ वें वर्ष में है। तीर्थंकर भगवान कहते हैं कि राग नहीं करना। तो फिर मेरे प्रति का राग तुझे क्यों? उसमें है। है? श्रीमद् का है? यह श्रीमद् का है? यह तो समयसार है। श्रीमद् का यह है। आहाहा! लो, २३वाँ वर्ष है, हों!

मुमुक्षु : पहला भाद्रपद महीना।

पूज्य गुरुदेवश्री : २३वाँ वर्ष है। यह आया। 'ऊँच-नीच का अन्तर नहीं समझे वे पाये सद्गति' इतना करके फिर लिखा। 'तीर्थंकरदेव ने राग करने का निषेध किया है। राग होता है, वहाँ तक मोक्ष नहीं है, तब इसके प्रति का राग तुम सबको हितकर कैसे होगा?' यहाँ तो ऐसा कहते हैं। तो भी (वे लोग) कहे कि भक्ति करना और उसके राग से लाभ माने। यहाँ यह कहते हैं। आहाहा! तीर्थंकरदेव ने राग करने का निषेध किया है। राग हो, तब तक मोक्ष नहीं है, तब इसके प्रति का राग तुम सबको हितकर कैसे होगा? भाषा तो (देखो)! डेढ़ लाईन है। २३वाँ वर्ष है। चेतनजी ने पूछा था, इसलिए इसमें से उस दिन निकला। और निकला मौके से। आहाहा! देव-गुरु और शास्त्र ऐसा कहते हैं कि हमारे प्रति का राग तुझे लाभ किस प्रकार करेगा? आहाहा! वीतराग मार्ग। यह तो परमात्मस्वरूप वीतराग मार्ग है। उसे पर के प्रति के राग से लाभ हो, यह मान्यता भी मिथ्यात्व है। आहाहा! है?

सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग उसका त्यागरूप स्वभाव... उसका अभावस्वभावरूप स्वभाव है। आहाहा! वास्तव में तो आत्मा में एक अभाव नाम का गुण है। वह अभाव नाम का गुण राग के अभावस्वभावरूप होना, यह उसका गुण है। आहाहा! ४७ शक्तियों में ३४वीं शक्ति है। आहाहा! यह कर्म और रागरहित होता है, वह उसके कारण यहाँ अभाव नहीं। उसका अपना अभाव नाम का गुण है। आहाहा! इसलिए उसे कर्म को राग के अभावस्वभावरूप अभावगुण के कारण परिणमता है। आहाहा! अभाव शक्ति है न? भाव, अभाव (ऐसी) छह शक्तियाँ हैं। भाव, अभाव, भावअभाव,

अभावभाव, भावभाव, अभावअभाव—ऐसे तो भाव दूसरा एक है परन्तु वह दूसरी बात है। छह द्रव्य का परिणमन है। विकार का छह कारक का परिणमन है, उससे रहित ऐसा इसका भाव नाम का गुण है। समझ में आया? और एक भाव नाम का गुण यह है, आहाहा! कि अपने भावरूप परिणमना, वह भाव नाम का गुण है और अभाव नाम का गुण यह है कि उसका स्वतः स्वभाव रागरहित परिणमना, वही उसका अभाव गुण है। आहाहा! समझ में आया?

भाव के तीन प्रकार हैं, उसमें ४७ (शक्तियों में), भाई! एक भाव यह है कि अपना सद्भाव है, उसरूप होना—ऐसा भावगुण है। और एक अभाव है। पर के अभावस्वभावरूप परिणमना, उसका अभावगुण है। परन्तु एक भाव ऐसा है कि षट्कारकरूप से विकाररूप से परिणमता है, उससे रहितपने परिणमना, ऐसा भावगुण है और एक भाव ऐसा गुण है कि प्रत्येक पर्याय, प्रत्येक में प्रत्येक पर्याय उस काल में होती ही है। वह भाव नाम का एक गुण है। आहाहा! ४७ शक्ति में (ऐसे) तीन प्रकार हैं। आहाहा! क्या कहा यह?

एक भावगुण ऐसा है अन्दर भगवान आत्मा में कि जिसकी दृष्टि (में) वहाँ द्रव्य के स्वभाव का स्वीकार हुआ, उसे समय-समय में अनन्त गुण की निर्मल पर्याय प्रगट होती ही है। मैं करूँ तो होती है और विकल्प करूँ तो होती है, यह वहाँ है नहीं। आहाहा! अब ऐसी बातें। समझ में आया? यह भावअभाव। उस रागसहित का अभाव नाम का गुण स्वयं के कारण से रागरहित स्वभावरूप परिणमता है। राग का अभाव, वह राग के कारण नहीं परन्तु अपना स्वभाव ही ऐसा है कि राग के अभावस्वभावरूप अभावगुण परिणमता है। अरे! ऐसी बातें, आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं कि **सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग, उसका त्यागरूप स्वभावपना होने से...** देखा? त्यागरूप स्वभाववाला होने से, अभावस्वभाववाला होने से। आहाहा! भगवान आत्मा का द्रव्य ही समकिती को ख्याल में जो आया है, वह राग के त्यागरूप स्वभावपना होने से **ज्ञानी कर्म से अलिप्त स्वभावी है।** आहाहा! यह गजब बात। यह धर्मी जीव का धर्म का स्वभाव। उसके (कर्म के) अभावस्वभावरूप है। इससे वह राग के त्याग का—अभावस्वभावरूप उसका परिणमन है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म पड़े,

इसलिए क्या हो परन्तु ? 'मूल मार्ग सुन लो जिन का रे।' आता है न श्रीमद् में ? मूल मार्ग यह है। आहाहा ! क्या कहा यह ?

धर्मी जीव कर्म के मध्य में रहा होने पर भी कर्म से लिप्त नहीं होता। **क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग, उसका त्यागरूप स्वभावपना होने से...** आहाहा ! उसका त्याग अर्थात् अभावस्वभावरूप **होने से ज्ञानी...** राग से **अलिप्त स्वभावी है।** आहाहा ! उस धर्मी द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा है। धर्मी द्रव्य ऐसा जो धर्मी तत्त्व, उसकी जिसे दृष्टि हुई, उस धर्मी द्रव्य को पर के-राग के अभावस्वभावरूप परिणमना और पर से अलिप्त रहने के स्वभाववाला है। राग से लिप्त हो, ऐसे स्वभाववाला वह द्रव्य नहीं है। इसलिए समकिती भी पर के राग से लिप्त हो, ऐसा वह नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ? पश्चात्। यह धर्मी की बात की।

जैसे कीचड़ के बीच पड़ा हुआ लोहा कीचड़ से लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसमें जंग लग जाती है)। तुम्हारे हिन्दी में जंग कहते हैं। आहाहा ! उस लोहे का स्वभाव है इसलिए। सोना का स्वभाव कीचड़ में रहने पर भी उसे जंग नहीं लगती। वह उसके कारण से है। ऐसे लोहा कीचड़ में पड़ा है और लेप (लगे) वह तो लोहे के स्वभाव के कारण से है। आहाहा ! **उसका स्वभाव कीचड़ से लिप्त होना है,...** आहाहा ! **कीचड़ के बीच पड़ा हुआ लोहा कीचड़ से लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसमें जंग लग जाती है)। क्योंकि उसका स्वभाव कीचड़ से लिप्त होना है,...** वह तो उसका अपना स्वभाव है, कीचड़ के कारण से नहीं। आहाहा !

भाव नाम का गुण है। उसमें कहते हैं, षट्कारक विकाररूप पर्याय परिणमती है। जिसकी दृष्टि वहाँ है, वह अपने षट्कारक से परिणमता है, वह उससे लिप्त होता है परन्तु जिसकी दृष्टि उसके ऊपर नहीं... आहाहा ! और आत्मद्रव्य के ऊपर है, उसमें भाव नाम के गुण के कारण उस षट्कारक की विकृति के परिणाम से अभावरूप परिणमना, ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा ! ऐसा धर्म कैसा ? वह तो कितनी ऐसी धमाल चलती है। भक्ति करो, पूजा करो, अमुक करो, संगीत लगाओ। अभी यह चला है। संगीत... संगीत का वजन। विद्यानन्द है न ? संगीत बनाया है। यहाँ आया है न ? एक बहिन लायी थी। 'वंदित्तु सव्व सिद्धे' परन्तु इससे क्या हुआ ? संगीत में लगाओ। तीन सौ रुपये यहाँ दो तो तुम्हें यह सब

मिलेगा। संगीत मिलेगा। वह तो सब विकल्प, राग है। संगीत सुनना, वह भी राग है। संगीत में मजा आ जाए ऐसे, बस! देवलाली में वह है न? मुम्बई के पास। वहाँ संगीत लगाते हैं। 'जो स्वरूप समझे...' की ऐसी लगावे ऐसे अन्दर (कि) लोगों को ऐसे धुन चढ़े। परन्तु वह तो राग है, भाई!

लोहखण्ड कीचड़ में पड़ा है, इसलिए उसे लेप लगता है, ऐसा नहीं है। वह लेप लोहे का ही स्वभाव है। आहाहा! **इसी प्रकार वास्तव में अज्ञानी कर्मों के मध्य रहा हुआ..** विकारी परिणाम के मध्य में दिखता है, विकारी परिणाम से लिप्त होता है। आहाहा! क्योंकि उसकी दृष्टि वहाँ है। जिसकी दृष्टि के अस्तित्व में विकार का ही अस्तित्व भासित होता है। इसलिए वह अज्ञानी ऐसे कार्य के मध्य में पड़ा हुआ लिप्त होता ही है। वह तो स्वयं के कारण से लिप्त होता है, ऐसा कहते हैं। ऐसा लिप्त होने का अज्ञानी का स्वभाव ही वह है। आहाहा!

क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग... आहाहा! भगवान त्रिलोकनाथ के प्रति किया जानेवाला राग.. आहाहा! और वाणी के प्रति भी किया जानेवाला राग। **सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग...** आहाहा! सर्व द्रव्यों में तो तीर्थंकर और तीर्थंकर की वाणी भी आयी या नहीं? हें? देव-गुरु-शास्त्र आये या नहीं? आहाहा! **परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग, उसका ग्रहणरूप स्वभावपना होने से...** अज्ञानी को तो उस राग का ग्रहण (करना) ऐसा ही उसका स्वभाव है। यह लोहे का स्वभाव है (कि) कीचड़ के मध्य, वह कीचड़ के कारण से नहीं, लोहे के स्वभाव के कारण से। उसी प्रकार अज्ञानी का स्वभाव ही यह है। राग की एकतारूप होना, ऐसा उसका स्वभाव होने से अज्ञानी **कर्म से लिप्त होने के स्वभाववाला है।** आहाहा! बहुत सूक्ष्म।

विकार के परिणाम के मध्य में रहा होने पर भी धर्मी का स्वभाव ऐसा है कि उससे स्वयं के कारण से लिप्त नहीं होता और अज्ञानी ऐसा है कि उसका स्वभाव राग की एकताबुद्धिवाला होने से उसे विकारी परिणाम का लेप लग जाता है। अज्ञानी कर्म से लिप्त होने के स्वभाववाला है, कहते हैं। वह द्रव्य का स्वभाव नहीं। आहाहा! विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)